

---

## इकाई 3 आदिवासी विमर्श : अवधारणा और आन्दोलन

---

### इकाई की रूपरेखा

- 3.0 उद्देश्य
- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 अस्मितामूलक विमर्श और आदिवासी
- 3.3 आदिवासी साहित्य की अवधारणा
- 3.4 आदिवासी चिंतकों का नजरिया
- 3.5 आदिवासी विमर्श की परंपरा
  - 3.5.1 पुरखा साहित्य
  - 3.5.2 आदिवासी भाषाओं में रचित साहित्य की परंपरा
  - 3.5.3 समकालीन हिंदी आदिवासी लेखन
- 3.6 आदिवासी साहित्य की प्रवृत्तियाँ
- 3.7 आदिवासी साहित्य की वैचारिकी
- 3.8 आदिवासी साहित्य की भाषा और शिल्प
- 3.9 सारांश
- 3.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 3.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

---

### 3.0 उद्देश्य

---

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- अस्मितामूलक विमर्शों में आदिवासी विमर्श के स्थान को समझ सकेंगे;
- आदिवासी साहित्य विमर्श की परंपरा से परिचित हो सकेंगे;
- आदिवासी साहित्य की अवधारणा को समझ सकेंगे;
- आदिवासी लेखन की प्रवृत्तियों से परिचित हो सकेंगे;
- आदिवासी लेखन के महत्त्व से रुबरू हो सकेंगे;
- आदिवासी साहित्य की वैचारिकी को जान सकेंगे;
- आदिवासी साहित्य की भाषा के स्वरूप को विश्लेषित कर सकेंगे।

---

### 3.1 प्रस्तावना

---

हिंदी में पिछले दो-तीन दशकों से अस्मितावादी लेखन चर्चा का विषय बना हुआ है। यही दौर है जिसमें स्त्री, दलित, आदिवासी आदि उत्पीड़ित अस्मिताओं ने साहित्य में बड़-चढ़कर

हिस्सेदारी की व साहित्यिक आंदोलन चलाए। आदिवासी विमर्श और आंदोलन इनमें नवीनतम है। इन आंदोलनों ने साहित्य को नई धारा दी और समाज को नई दिशा प्रदान की। आदिवासी साहित्य आने से पहले बाहरी समाज आदिवासी दुनिया के बारे में बहुत कम जानता था। आदिवासी लेखन ने साहित्य जगत को एक नई विश्वदृष्टि दी, नए आयाम दिये। इस इकाई में हम आदिवासी विमर्श की अवधारणा और आंदोलन को आपको समझाने का प्रयास कर रहे हैं।

## 3.2 अस्मितामूलक विमर्श और आदिवासी

पिछले दशकों में मुक्तिकामी साहित्य ने पाठकों, शोधार्थियों और आलोचकों का ध्यान आकर्षित किया है। इसी प्रक्रिया में आदिवासी साहित्य ने भी अपनी उपस्थिति दर्ज की है। अकादमिक दुनिया में स्त्रीवादी लेखन और दलित लेखन के बाद आने से जहाँ एक तरफ आदिवासी लेखन की राह थोड़ी आसान हुई, वहीं इसके बारे में कुछ सरलीकरणों और भ्रमों का निर्माण भी हुआ। आदिवासी लेखन और साहित्य के बारे में सही समझ बनाने के लिए इसकी स्रोत सामग्री और उसके आधार पर बनने वाली आदिवासी साहित्य की परंपरा की पड़ताल करनी बहुत जरूरी है। साथ ही आदिवासी साहित्य की विचारधारा पर भी बात करनी आवश्यक है। जब हम आदिवासी साहित्य की परंपरा और विचारधारा का व्यवस्थित अध्ययन करेंगे तो उसकी प्रवृत्तियों को भी समझ पायेंगे। जाहिर है मुक्तिकामी विमर्शों के दौर में इन विमर्शों और अस्मिताओं से संबंधित साहित्य की सही परंपरा और प्रवृत्तियों के अध्ययन के माध्यम से ही हम मूल्यांकन की सही प्रविधि निर्मित कर पायेंगे।

## 3.3 आदिवासी साहित्य की अवधारणा

आदिवासी साहित्य के अध्येता प्रो. वीर भारत तलवार ने तद्भव-34 में छपे अपने लेख में आदिवासी संबंधी साहित्य की चार श्रेणियाँ बनाई हैं— '1. कुछ ऐसे लेखक हैं जो आदिवासी समाज के बारे में बहुत कम और सतही जानकारी रखते हैं और साथ ही अपने सवर्ण हिंदू संस्कारों से ग्रस्त हैं, अपने सामाजिक-सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों से ग्रस्त हैं और उसी दृष्टि से आदिवासी समाज को चित्रित करते हैं। 2. दूसरी श्रेणी उन लेखकों की है जो लंबे समय से आदिवासियों के करीब रहते आए हैं और उनसे पूरी सहानुभूति रखते हैं, उनके समाज से थोड़ा-बहुत वाकिफ भी हैं। इनकी मुख्य प्रवृत्ति आदिवासियों के दमन, शोषण और उत्पीड़न को चित्रित करने और उनकी आर्थिक राजनीतिक समस्याओं को उठाने की है। 3. उन लेखकों का साहित्य जो आदिवासियों के बीच लंबे समय तक रहे हैं, जिन्होंने उनका अच्छा और बुरा देखा है और उनकी प्रवृत्तियों को समझने का प्रयास किया है। और 4. चौथी श्रेणी खुद आदिवासियों द्वारा लिखे साहित्य की है। वह उन्होंने अपनी मूल भाषाओं में लिखा हो या हिंदी, बांग्ला या अन्य प्रादेशिक भाषाओं में, इससे फर्क नहीं पड़ता।' इन चार श्रेणियों में से वीर भारत तलवार चौथी श्रेणी को ही प्रामाणिक आदिवासी साहित्य मानते हैं और शेष तीन श्रेणियों को आदिवासी संबंधी साहित्य। चौथी श्रेणी, यानी स्वयं आदिवासियों द्वारा लिखित साहित्य के बारे में वे लिखते हैं, "इसकी गुणवत्ता बिल्कुल अलग किस्म की है। आदिवासियों के जीवन और समाज के सच्चे चित्र यहीं मिलते हैं।"

आदिवासी साहित्य के नाम पर मुख्यतः तीन तरह का साहित्य हमारे सामने है :

- आदिवासियों के बारे में लिखा गया साहित्य ।
- आदिवासियों के द्वारा लिखा गया साहित्य ।
- आदिवासी दर्शन को आधार बनाकर लिखा गया साहित्य ।

आदिवासियों के बारे में लिखे गए साहित्य का आदिवासी साहित्य के रूप में दावा करना सहज है इसीलिए शोधार्थी अक्सर रेणु के 'मैला आंचल' के संधाल प्रसंग या योगेन्द्रनाथ सिन्हा के 'वनलक्ष्मी' से आदिवासी साहित्य की शुरुआत मान लेते हैं। कुछ लोग तो तुलसीदास के रामचरितमानस में आए वन के प्रसंगों को भी आदिवासी साहित्य में मान लेते हैं और इसी दृष्टि से विश्लेषण करने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि जहाँ भी वन, जंगल या किसी आदिवासी समुदाय का जिक्र आ जाता है, उसे ही आदिवासी साहित्य मान लिया जाता है और इससे 20वीं सदी के आखिरी दशक में प्रमुखता से उभरे आदिवासी साहित्य के आंदोलन के बारे में भ्रमों का निर्माण होता चला जाता है। आदिवासी चिंतक हिंदी साहित्य में आए वन या आदिवासी प्रसंगों को आदिवासी साहित्य मानने से इनकार करते हैं।

इस तरह आदिवासी साहित्य के बारे में दूसरा विचार सामने आता है— आदिवासियों के द्वारा लिखा गया साहित्य ही आदिवासी साहित्य है। यह विचार स्त्रीवादी साहित्य और दलित साहित्य के प्रभाव में निर्मित हुआ है। जाहिर है इस तर्क की अपनी सीमाएँ हैं। अनुभूति की प्रामाणिकता किसी साहित्य का एकमात्र आधार नहीं हो सकती। आज जब आदिवासी समाज गहरे सांस्कृतिक हमलों से गुजर रहा है, ऐसे में आदिवासी समाज का सच लिखने के लिए केवल किसी समुदाय में पैदा हो जाना काफी नहीं है। आदिवासी समुदायों का बड़ी संख्या में हिंदूकरण और ईसाईकरण हुआ है। इसने उनकी मौलिक समझ और दर्शन को बहुत प्रभावित किया है।

इस प्रक्रिया में आदिवासी साहित्य की अवधारणा को लेकर तीसरा विचार सामने आता है कि आदिवासी दर्शन को आधार बनाकर लिखा गया साहित्य ही आदिवासी साहित्य माना जाए। जाहिर है आदिवासी दर्शन ही वह तत्व है जो आदिवासी समाज और साहित्य को शेष समाज और साहित्य से अलग करता है। यह आदिवासी जीवन का मूल है और जिस पर चौतरफा हमले हो रहे हैं इसलिए जहाँ आदिवासी दर्शन आदिवासी साहित्य की मूल शर्त है वहीं इसे बचाना आदिवासी साहित्य आंदोलन का मुख्य ध्येय है। निष्कर्षतः आदिवासी साहित्य आदिवासी दर्शन पर आधारित साहित्यिक आंदोलन है जो आदिवासी परंपरा से अपने तत्व लेता है और 21वीं सदी के पहले दशक में अकादमिक जगत में अपना अलग साहित्यिक आंदोलन होने का दावा प्रस्तुत करता है। समकालीन आदिवासी लेखन की शुरुआत हमें उदारवाद, बाजारवाद और भूमंडलीकरण के उभार से माननी चाहिए। भारत सरकार की नई आर्थिक नीतियों ने आदिवासी शोषण—उत्पीड़न की प्रक्रिया तेज की, इसलिए इसका प्रतिरोध भी मुखर हुआ। शोषण और उसके प्रतिरोध का स्वरूप राष्ट्रीय था इसलिए प्रतिरोध से निकली रचनात्मक ऊर्जा का स्वरूप भी राष्ट्रीय था। आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा के लिए राष्ट्रीय स्तर पर पैदा हुई रचनात्मक ऊर्जा का नाम ही समकालीन आदिवासी साहित्य आंदोलन है। आदिवासी साहित्य अस्मिता की खोज, दिक्कों द्वारा किये गए और किये जा

रहे शोषण के विभिन्न रूपों के उद्घाटन तथा आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संकटों और उनके खिलाफ हो रहे प्रतिरोध का साहित्य है। यह उस परिवर्तनकामी चेतना का रचनात्मक हस्तक्षेप है जो देश के मूल निवासियों के वंशजों के प्रति किसी भी प्रकार के भेदभाव का पुरजोर विरोध करती है तथा उनके जल, जंगल, जमीन और जीवन को बचाने के हक में उनके 'आत्मनिर्णय' के अधिकार के साथ खड़ी होती है।

आदिवासियों ने किसी कौम पर राज करने के लिए नहीं, लेकिन अपना अस्तित्व बचाने के लिए बार-बार विद्रोह किया है। पिछली दो सदियों आदिवासी विद्रोहों की गवाह रही हैं। इन विद्रोहों से रचनात्मक ऊर्जा भी निकली, लेकिन वह मौखिक ही अधिक रही। समकालीन आदिवासी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में आदिवासी समाज में हजारों साल पुरानी साहित्य की मौखिक परंपरा को रखा जा सकता है, जिसे पुरखौती कहा जाता है। पूर्वोत्तर भारत में लगभग डेढ़ सौ साल पहले और संताली आदि मध्य भारतीय आदिवासी भाषाओं में 1950 के आसपास से आदिवासी कलम ने अपने स्वयं को शब्दों में ढालना शुरू किया। आजादी के बाद जयपाल सिंह मुंडा के नेतृत्व में भारतीय राजनीति से साहित्य तक में आदिवासी चेतना की गूंज सुनाई देने लगी। बाद के आदिवासी लेखन को उसी के विकास के रूप में देखा जा सकता है। पुरखौती रूप में मौजूद आदिवासी साहित्य जहाँ प्रकृति और प्रेम के विविध रूपों के साथ रचाव और बचाव का साहित्य है, वहीं समकालीन आदिवासी लेखन अस्मिता की खोज, दिक्कतों द्वारा किये गए और किये जा रहे शोषण के विविध रूपों के उद्घाटन तथा आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संकटों और उनके खिलाफ हो रहे संघर्ष का साहित्य है।

आदिवासी साहित्य विविधताओं से भरा हुआ है। समृद्ध मौखिक साहित्य परंपरा का लाभ आदिवासी साहित्यकारों को मिला है। आदिवासी साहित्य की उस तरह कोई केन्द्रीय विधा नहीं है, जिस तरह स्त्री साहित्य और दलित साहित्य की आत्मकथात्मक लेखन है। आदिवासी रचनाकारों ने आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संघर्ष में कविता को अपना मुख्य हथियार बनाया है। आदिवासी साहित्य में आत्मकथात्मक लेखन केन्द्रीय स्थान नहीं बना सका क्योंकि स्वयं आदिवासी समाज 'आत्म' में नहीं, समूह में विश्वास करता है। अधिकांश आदिवासी समुदायों में काफी समय बाद तक भी निजी और निजता की धारणाएँ घर नहीं कर पाईं। परंपरा, संस्कृति, इतिहास, कला से लेकर विद्रोह तक, सब कुछ सामूहिक है और समूह की बात आत्मकथा में नहीं, जनकविता में ज्यादा अच्छे से व्यक्त हो सकती है। आदिवासी साहित्य बिरसा, सिदो-कान्हू, सिनगी दर्ई, फूलो झानो, माकी मुंडा, गोंड रानी दुर्गावती और तमाम आदिवासी पुरखों के जीवन और आंदोलनों से चेतना और प्रेरणा लेकर आगे बढ़ रहा है।

---

### 3.4 आदिवासी चिंतकों का नजरिया

---

आदिवासी साहित्य के नाम पर किये जा रहे शोधों में से काफी मात्रा में ऐसे भी हैं जिनका आदिवासी समाज और साहित्य से कोई सीधा संबंध ही नहीं बनता। वस्तुस्थिति यह है कि आदिवासी जीवन और समाज पर गैर-आदिवासी रचनाकारों के कहानी-उपन्यास प्रशंसा, पाठ्यक्रम और पुरस्कार पा रहे हैं तथा दो-एक आदिवासी रचनाकारों को छोड़कर सैकड़ों की संख्या में सक्रिय आदिवासी कवि-लेखक उपेक्षा के शिकार हैं। आदिवासी साहित्य की अवधारणा और बुनियादी सवालों को उठाने की दृष्टि से पिछले वर्षों में हुई दो गोष्ठियाँ बड़ी

महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से एक दिल्ली में हुई और दूसरी रांची में। जुलाई 2013 में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में आदिवासी साहित्य पर हुई राष्ट्रीय संगोष्ठी में संभवतः पहली बार खुले तौर पर झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा (रांची) की संयोजक और आदिवासी रचनाकार वंदना टेटे ने आदिवासी साहित्य की अवधारणा के सवाल को मुखरता से उठाया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि कुछ समय के साथ या सुनी-सुनाई बातों से आदिवासी जीवन का सच प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। मुख्यधारा की सोच, भाषा और दृष्टिकोण से आदिवासी जीवन पर किया लेखन रिसर्च हो सकता है, लेकिन आदिवासी साहित्य नहीं। आदिवासी ही अपनी पीड़ा को सही ढंग से बयान कर सकता है। उसकी समस्याएँ प्रधानतः आर्थिक नहीं हैं, जैसा कि अधिकांश रचनाकारों ने चित्रित किया है। इसके बाद वाले सत्र में वंदना टेटे द्वारा उठाये गए सवालों पर कथाकार संजीव सहित आदिवासी जीवन पर लिखने वाले कई गैर-आदिवासी रचनाकारों द्वारा असहमति जताते हुए प्रतिक्रिया दी गई।

वंदना टेटे ने आदिवासी साहित्य संबंधी अपने चिंतन को व्यवस्थित रूप से अपनी पुस्तक 'आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन' में रखा है। आदिवासी साहित्य के संवर्द्धन के लिए निजी प्रयासों से संचालित प्यारा केरकेट्टा फाउण्डेशन से प्रकाशित यह पुस्तक आदिवासी जीवन, भाषा, कला, संस्कृति और साहित्य के बारे में फैलाये जा रहे भ्रमों को तोड़ते आदिवासी नजरिए से आदिवासी साहित्य और आदिवासी विश्वदृष्टि के बारे में सही समझ विकसित करने की दिशा में सार्थक हस्तक्षेप है। इसमें वंदना टेटे आदिवासी साहित्य संबंधी प्रचलित तीन धारणाओं— उसके लोक साहित्य होने, अनगढ़ होने और प्रतिरोध का साहित्य होने का खंडन करती हैं तथा आदिवासी संस्कृति, जीवन-दर्शन व उनके विश्वदृष्टिकोण के प्रति एक नई अंतरंग दृष्टि की माँग करती हैं। वे लोक का संबंध हिंदू मिथक और संस्कृति से बताते हुए कहती हैं, "प्रकृति-पूजक और बोंगा को मानने वाले आदिवासियों के साहित्य को हिंदू धर्म की शब्दावली 'लोक' में बांध कर संकीर्ण करना धार्मिक असहिष्णुता तो है ही, सांस्कृतिक अतिक्रमण भी है।"

वे लोक और शिष्ट के विभाजन से भी अपनी असहमति दर्ज कराती हैं। इसी तरह आदिवासी साहित्य और कलाओं को हिंदी आलोचकों द्वारा अनगढ़ बताने को सीधे-सीधे आदिवासी सामूहिकता, सहजीविता और सहअस्तित्व के दर्शन को वैचारिक रूप से नकारना मानती हैं। पुस्तक में वंदना टेटे की सबसे महत्त्वपूर्ण स्थापना है कि आदिवासी साहित्य अन्य शोषितों के साहित्य की तरह वेदना और प्रतिरोध का साहित्य नहीं है। वे लिखती हैं, "आदिवासी साहित्य मूलतः सृजनात्मकता का साहित्य है। यह इंसान के उस दर्शन को अभिव्यक्त करने वाला साहित्य है जो मानता है कि प्रकृति सृष्टि में जो कुछ भी है, जड़-चेतन, सभी कुछ सुंदर है।... वह दुनिया को बचाने के लिए सृजन कर रहा है।" वंदना टेटे कहती हैं कि प्रतिरोध का साहित्य वर्तमान सत्ता के खिलाफ लड़ने वालों की सत्ता स्थापित करना चाहता है लेकिन आदिवासी साहित्य में ऐसी कोई कामना दूर-दूर तक नहीं है।

इन स्थापनाओं के आलोक में आदिवासी साहित्य की अवधारणा को ठीक से समझने की आवश्यकता है। हमें स्पष्ट रखना होगा कि हिंदी आदिवासियों की मातृभाषा नहीं रही है इसलिए हमें इस आग्रह को छोड़ना होगा कि हिंदी में लिखे साहित्य को ही आदिवासी साहित्य मानेंगे, आदिवासी भाषाओं में लिखे साहित्य को आदिवासी साहित्य नहीं मानेंगे। आदिवासी साहित्य की परंपरा में हमें विभिन्न आदिवासी भाषाओं में बिखरे लाखों आदिवासी गीतों के रूप में उपलब्ध पुरखौती को शामिल करना होगा जिसका कुछ हिस्सा डब्ल्यू. सी.

आर्चर जैसे विद्वानों द्वारा संकलित भी किया गया है। यह आदिवासी साहित्य का मूलाधार है। इसलिए आदिवासी साहित्य का इतिहास लिखते वक्त, उसकी प्रवृत्तियाँ बताते वक्त हमें संताली, मुंडारी, खड़िया, कुडुख, हो आदि भाषाओं की साहित्य परंपरा को सामने रखना होगा।

### बोध प्रश्न 1

1. आदिवासी साहित्य के नाम पर मुख्यतः किस तरह का साहित्य हमारे सामने हैं?
  - (क) आदिवासियों के बारे में लिखा गया साहित्य
  - (ख) आदिवासियों के द्वारा लिखा गया साहित्य
  - (ग) आदिवासी दर्शन को आधार बनाकर लिया गया साहित्य
  - (घ) उपर्युक्त सभी
2. पुरखौती रूप में मौजूद आदिवासी साहित्य है?
  - (क) प्रकृति और प्रेम के विविध रूपों के साथ रचान और बचान का साहित्य।
  - (ख) आदिवासी अस्मिता की खोज और आस्तित्व के संकटों के खिलाफ हो रहे संघर्ष का साहित्य
  - (ग) दिक्कुओं द्वारा किये गये और किये जा रहे शोषण के विधि रूपों के उद्घाटन का साहित्य
  - (घ) उपर्युक्त सभी

### 3.5 आदिवासी विमर्श की परंपरा

आदिवासी साहित्य की परंपरा की पड़ताल करने के लिए आदिवासी साहित्य के स्रोतों का अध्ययन जरूरी है। सबसे पहले यह रेखांकित करना जरूरी है कि हमें साहित्य के पूर्व निर्धारित प्रतिमानों और पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर इस विषय पर विचार करना चाहिए। हमारी परंपरागत समझ यह है कि किसी महानगर के किसी वर्चस्वशाली भाषा के ज्ञात प्रकाशक के यहाँ से मुद्रित-प्रकाशित, पुरस्कृत, प्रशंसित, पाठ्यक्रम में शामिल हो चुकी किताब ही श्रेष्ठ साहित्य है। साहित्य की किताबें अक्सर इसी प्रक्रिया में चर्चित हुआ करती हैं। आदिवासी साहित्य की अवधारणा पर विचार करते वक्त हमें इस परिपाटी को छोड़ना होगा। तभी हम आदिवासी साहित्य की सही स्रोत सामग्री का चयन कर पायेंगे और इसकी परंपरा की पड़ताल कर पायेंगे। आदिवासी भाषाओं में रचित साहित्य और मौखिक परंपरा आदिवासी साहित्य का मूल स्रोत है। सिर्फ हिंदी में लिखित-मुद्रित आदिवासी संबंधी लेखन को आदिवासी साहित्य कहना उचित नहीं है। मौखिक साहित्य इसका मूलाधार है। आदिवासी साहित्य की परंपरा को तीन भागों में बाँटकर समझा जा सकता है :

1. पुरखा साहित्य
2. आदिवासी भाषाओं में लिखित साहित्य की परंपरा।
3. समकालीन हिंदी आदिवासी लेखन।

### 3.5.1 पुरखा साहित्य

आदिवासी दर्शन व साहित्य का मूलाधार पुरखा साहित्य ही है। पुरखा साहित्य आदिवासी समाज में हजारों वर्षों से जारी मौखिक साहित्य की परंपरा है। 20वीं सदी में इसके संकलन, संपादन और प्रकाशन के कार्य भी हुए हैं। आदिवासी चिंतक इस मौखिक परंपरा को मौखिक साहित्य या लोक-साहित्य कहने के बजाय पुरखा साहित्य कहते हैं। इसके पीछे महत्वपूर्ण तर्क हैं। पहली बात तो यह कि मौखिक साहित्य कहने से कुछ पता नहीं चलता कि किसका मौखिक साहित्य, कैसा मौखिक साहित्य? दुनिया के तमाम समाजों में लिखित से पहले मौखिक साहित्य की परंपरा रही है। उससे अलगाने के लिए आदिवासी चिंतक आदिवासी मौखिक परंपरा को पुरखा साहित्य कहते हैं। इस प्रक्रिया में वे इसे लोक साहित्य से भी अलग बताते हैं। इस संदर्भ में आदिवासी चिंतक वंदना टेटे लिखती हैं कि चूंकि आदिवासी समाज में बाहरी समाज की तरह लोक और शास्त्र का भेद नहीं है, इसलिए साहित्य को भी नहीं बाँटा जा सकता। चूंकि आदिवासी समाज और संस्कृति में पुरखों का बहुत महत्व है और मौखिक परंपरा में मिलने वाले गीत, कथाएँ आदि भी पुरखों ने ही रची हैं, इसलिए इस मौखिक परंपरा को सम्मिलित रूप में पुरखा साहित्य कहना चाहिए।

तमाम आदिवासी भाषाओं में पुरखा साहित्य की समृद्ध परंपरा मौजूद है। इसी के माध्यम से हम उनके जीवन-दर्शन, ज्ञान परंपरा, मूल्यों-विश्वासों आदि को जान सकते हैं इसलिए आदिवासी जीवन को जानने के लिए पुरखा साहित्य को संकलित करना और सहेजना बहुत जरूरी है। इस दिशा में अध्येताओं ने थोड़ा बहुत कार्य किया है लेकिन काफी काम किया जाना बाकी है। देश में 300 से अधिक आदिवासी भाषाओं में पुरखा साहित्य की परंपरा बिखरी पड़ी है। इसके संकलन और संपादन में बहुत सावधानी की जरूरत है। अक्सर हम अपने पूर्वाग्रहों के साथ संकलन शुरू करते हैं और हमारे पूर्वाग्रह पाठ संशोधन के बीच में घुस जाते हैं। संकलन के लिए आदिवासी दर्शन और संबंधित भाषा का ज्ञान जरूरी है।

उपलब्ध पुरखा साहित्य में दो-तीन विशेषताएँ कॉमन हैं- पुरखों के प्रति कृतज्ञता का भाव, प्रकृति और प्रेम के प्रति गहरी संवेदनशीलता, बाहरी समाज के हमलों के प्रति सजगता, अपनी परंपरा और संस्कृति को बचाने का भाव आदि। आदिवासियों पर बाहरी समाजों के हमलों का इतिहास काफी पुराना है और उतनी ही पुरानी है उसके प्रति आदिवासी पुरखों की सजगता। उदाहरण स्वरूप एक गीत देखिए :

“रास्ते में एक जोड़ा जो लूदम फूल है  
उस फूल को ऐ बेटी, किसने तोड़ लिया?  
रास्ते में अटल फूल की जो कतार है  
हे बेटी, किसने छिनगा लिया?  
चमचमाते हुए शिकारी  
शिकारियों ने फूल तोड़ लिया  
झलकते हुए अहेरी  
अहेरियों ने डाल को छिनगा दिया  
शिकारियों ने जो फूल को तोड़ा

हे बेटी, चोटी से ही तोड़ लिया।  
अहेरियों ने जो डाल को छिनगा दिया  
सो हे बेटी, नीचे से ही छिनगा दिया!  
शिकारियों ने जो फूल को तोड़ा  
हे बेटी, उसकी फुनगी मुरझा गई  
अहेरियों ने जो छिनगा दिया,  
हे बेटी, उसका तना कुम्हला गया!"  
बांसुरी बज रही है

(मुंडारी गीतों का संकलन)– जगदीश त्रिगुणायत

उपर्युक्त गीत एक मुंडारी पुरखा गीत का हिंदी अनुवाद है। तमाम आदिवासी भाषाओं में इस तरह की सामग्री बिखरी पड़ी है। जरूरत है उसके प्रति सही दृष्टिकोण विकसित करने और उसे सहेजने की ताकि आदिवासी दर्शन और साहित्य की सही परंपरा से वाकिफ हो सकें।

### 3.5.2 आदिवासी भाषाओं में रचित साहित्य की परंपरा

आदिवासी भाषाओं में लिपियाँ विकसित होने की शुरुआत अब से लगभग डेढ़ सौ साल पहले हो गई। अब तक एक दर्जन से अधिक आदिवासी भाषाओं की लिपियाँ तैयार हो चुकी हैं। कई आदिवासी भाषाओं ने पड़ोस की किसी बड़ी भाषा की लिपि को स्वीकार कर लिया है। निष्कर्षतः आदिवासी भाषाओं में लेखन और मुद्रण की परंपरा भी सौ साल से अधिक पुरानी है। इस परंपरा की और पड़ताल किये जाने की जरूरत है। मौजूदा स्रोत सामग्री के अनुसार मेन्स ओडेय का 'मतुराअ कहनि' नामक मुंडारी उपन्यास पहला आदिवासी उपन्यास है। यह 20वीं सदी के दूसरे दशक में लिखा गया। इसके एक भाग का अनुवाद हिंदी में 'चलो चाय बागान' शीर्षक से किया गया।

आदिवासी भाषाओं में रचित साहित्य का महत्त्व यह है कि इसमें विधाएँ भले ही बाहरी समाजों और भाषाओं से ली गई हैं लेकिन चूंकि रचनाकार अपनी मातृभाषा में लिख रहा है इसलिए अभिव्यक्त विचार और दर्शन में मौलिकता बनी रहती है। पूर्वोत्तर की खासी, गारो आदि भाषाओं में शौर्यगाथाओं की लंबी परंपरा है। धीरे-धीरे हिंदी आदि अन्य भाषाओं में भी इनके अनुवाद होने लगे हैं। ढेरों आदिवासी भाषाओं के लेखन में गए बिना सिर्फ गैर-आदिवासी भाषाओं में प्राप्त सामग्री के आधार पर आदिवासी साहित्य के बारे में बनाई गई राय अधूरी और भ्रामक होगी। अब भी हर साल आदिवासी भाषाओं में सैंकड़ों किताबें प्रकाशित हो रही हैं। हालांकि स्पष्ट समझदारी के अभाव में कहीं उसे आदिवासी लोक साहित्य कहा जा रहा है तो कहीं लोक कथाएँ।

### 3.5.3 समकालीन हिंदी आदिवासी लेखन

पुरखा साहित्य और आदिवासी भाषाओं में लिखित साहित्य से प्रेरणा ग्रहण कर बाहरी साहित्य के प्रभाव में हिंदी, बांग्ला, तमिल, मलयालम, उड़िया आदि बड़ी भाषाओं में भी लेखन शुरू किया। हर भाषा में इसकी शुरुआत के समय में थोड़ा-बहुत फर्क है। हिंदी में इसकी शुरुआत तीन दशक पहले से मानी जा सकती है। हिंदी के लेखकों के प्रभाव में आदिवासियों



ने मुंडारी, संताली, खड़िया आदि भाषाएँ छोड़कर हिंदी में लिखना शुरू किया। हालांकि इनकी ज्यादातर रचनाएँ छोटे प्रकाशनों से छपी हैं या अप्रकाशित ही रही हैं लेकिन इसके बावजूद पिछले तीन दशकों में हिंदी में सक्रिय आदिवासी रचनाकारों की संख्या कई दर्जन है। इन्होंने कविताओं के अलावा कहानियाँ और उपन्यास तो लिखे ही हैं, कुछ ने तो व्यंग्य, संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत आदि विधाओं में भी हाथ आजमाया है। हिंदी आदिवासी कविता में पहला नाम सुशीला सामद का है लेकिन उसके बाद एक निरंतरता का अभाव दिखाई देता है। इसलिए समकालीन हिंदी आदिवासी कविता की शुरुआत हम रामदयाल मुंडा की कविताओं से मान सकते हैं जिन्होंने मुंडारी के साथ हिंदी में भी कविताएँ लिखी हैं। उनके बाद ग्रेस कुजूर, रोज केरकेट्टा, हरिराम मीणा, महादेव टोप्पो, निर्मला पुतुल, वंदना टेटे, विजय सिंह मीणा, ज्योति लकड़ा, अनुज लुगुन, जसिंता केरकेट्टा आदि का नाम उल्लेखनीय है। कथा लेखन के क्षेत्र में वाल्टर भेंगरा 'तरुण', पीटर पौल एक्का, रोज केरकेट्टा, मुंगल सिंह मुंडा, विजय सिंह मीणा आदि प्रमुख हैं। इन्होंने आदिवासी साहित्य को सैंकड़ों कहानियाँ और लगभग आधा दर्जन उपन्यास दिये हैं। शंकरलाल मीणा व्यंग्य और कहानी— दोनों क्षेत्रों में सक्रिय हैं। हरिराम मीणा ने यात्रा-वृत्तांत व संस्मरण भी लिखे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आदिवासी साहित्य न केवल हिंदी आदि गैर-आदिवासी भाषाओं की एक उभरती प्रवृत्ति और साहित्योदोलन है, बल्कि आदिवासी भाषाओं में इसकी गहरी जड़ें और लंबी परंपरा मौजूद है। इसके बारे में राय बनाने के लिए पूरी परंपरा का अध्ययन आवश्यक है।

### 3.6 आदिवासी साहित्य की प्रवृत्तियाँ

कई दशक से आदिवासी रचनाकार लेखन के क्षेत्र में सक्रिय हैं। सवाल उठता है कि वे क्यों लिख रहे हैं और उनके साहित्य की विशेषताएँ क्या हैं? समकालीन आदिवासी हिंदी लेखन सोद्देश्य है। यह मुख्यतः बाहरी समाज को आदिवासी संस्कृति व परंपराओं से परिचित कराने व आदिवासी जीवन की समस्याओं से रूबरू कराने के लिए लिखा जा रहा है। साथ ही इसमें अपने समाज को जाग्रत करने का प्रयोजन भी शामिल है। आदिवासी समाज की नई पीढ़ी, जो अपने इतिहास, परंपरा और मूल्यों से कटती जा रही है, उसे समाज से जोड़े रखने के उद्देश्य से भी आदिवासी साहित्य रच रहे हैं।

आदिवासी साहित्य की प्रधान प्रवृत्ति आदिवासी दर्शन की अभिव्यक्ति और विस्तार है इसलिए आइए सबसे पहले आदिवासी दर्शन और आदिवासी साहित्य के संबंध को समझते हैं।

हिंदी में आदिवासी कलम के बढ़ते दखल के बीच वर्ष 2014 में 14-15 जून को रांची में 'आदिवासी दर्शन और समकालीन आदिवासी साहित्य सृजन' विषय पर राष्ट्रीय सेमिनार आयोजित किया गया जो आदिवासी साहित्य के बारे में सही समझ विकसित करने, उसका मूल्यांकन करने और उसके बुनियादी तत्वों की पहचान करने की दृष्टि से खास रहा। रांची सेमिनार में इन्हीं तत्वों की पहचान की गई और सेमिनार के अंत में घोषणा-पत्र जारी किया गया। इसमें विचार किया गया कि आदिवासी साहित्य की पहचान के लिए यह जानना भी जरूरी है कि इसकी विचारधारा क्या है? आदिवासी दर्शन क्या है? रांची घोषणा-पत्र के अनुसार आदिवासी साहित्य की बुनियादी शर्त उसमें आदिवासी दर्शन का होना है। झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा नामक संगठन द्वारा आयोजित इस सेमिनार में देशभर के आदिवासी रचनाकारों ने हिस्सा लिया और आदिवासी दर्शन सारी बातचीत के केन्द्र में था।

आदिवासी दर्शन और साहित्य की कुछ बुनियादी विशेषताएँ हैं जिन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है :

पंद्रह सूत्रीय रांची घोषणा-पत्र में आदिवासी साहित्य के लिए अनिवार्य आदिवासी दर्शन का पहला तत्व है उसका प्रकृति की लय-ताल और संगीत का अनुगामी होना। दरअसल आदिवासी समाज में साहित्य अन्य कला-माध्यमों से अलग और श्रेष्ठ नहीं माना जाता। वहाँ कलाकार एक साथ गीतकार भी है, संगीतकार भी है और नर्तक भी। आदिवासी साहित्य की लंबी परंपरा के रूप में मौजूद मौखिक साहित्य या पुरखौती में कौन सा गीत किसने रचा, ये बताना मुश्किल है क्योंकि अधिकांश गीतों की रचना सामूहिक रूप से हुई। पुरखौती किसी व्यक्ति या व्यक्तियों की नहीं, पूरे समाज की धरोहर मानी जाती है। तमाम भाषाओं में मौजूद आदिवासी साहित्य में प्रकृति की लय-तान और संगीत भरा पड़ा है। समकालीन आदिवासी लेखन पर भी इसका असर देखा जा सकता है। बिना संगीत के आदिवासी कविताओं की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती।

आदिवासी दर्शन में प्रकृति और पुरखों के प्रति आभार का भाव निहित होता है। पुरखों के कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान और इंसानी बेहतरी के अनुभवों के प्रति आदिवासी रचनाकार कृतज्ञता व्यक्त करता है क्योंकि उसी से पृथक आदिवासी परंपरा और संस्कृति के निर्माण द्वारा आदिवासी अस्मिता का स्वरूप बना। आदिवासी दर्शन परलोक के बजाय समूचे जीव-जगत को महत्त्वपूर्ण मानता है और मनुष्य की श्रेष्ठता के दंभी दावे को खारिज करता है। आदिवासी विश्वदृष्टि के अनुसार दुनिया का हर प्राणी और उसका जीवन बराबर महत्त्वपूर्ण है। इसलिए उन सब को बचाया जाना जरूरी है। साथ ही नदी, नाले, पहाड़, जंगल आदि को भी बचाया जाना जरूरी है। आदिवासी दर्शन पूरी दुनिया में फैल रही बाजारवादी लालसा और उससे उपजी धनलोलुपता और हिंसा का नकार करता है। बाहरी समाज ने हमेशा आदिवासी इलाकों को प्राकृतिक संसाधनों के दोहन का केन्द्र माना है। आदिवासी जिस प्रकृति को माँ मानते आए हैं, उसे बाहरी लोगों ने मुनाफे का साधन मात्र माना है। देश के तमाम आदिवासी इलाके संसाधनों के दोहन के लिए बर्बाद कर दिए गए और अब भी किये जा रहे हैं। आदिवासी उन जंगलों, नदियों, पहाड़ों से जरूरतभर चीजें लेता आया है और बदले में उनकी रक्षा करता आया है। वे उसके जीवनाधार हैं। आज भी अधिकांश इलाकों में यह प्रक्रिया देखी जा सकती है। कल्पना करें कि किसी आदिवासी बस्ती के समीपवर्ती जंगल में किसी फल का पेड़ है तो वहाँ के आदिवासी उस पेड़ से जरूरतभर फल चुनेंगे, वे भी सबसे पहले पककर झड़े हुए। यह 'संतोष परं सुख' का विचार नहीं, रचाव और बचाव का दर्शन है यानी जरूरत भर उपयोग के बाद दूसरों के लिए चीजों को बचाना।

आदिवासी दर्शन की एक और खास बात है- जीवन के प्रति आनंदमयी अदम्य जिजीविषा। आज जब चारों ओर निराशा और कुंठा का माहौल है, आदिवासी दर्शन जीवन को आनंदमय नजरिए से देखने और जीने की वकालत करता है। आदिवासी जीवन में सांस्कृतिक वैविध्य के साथ सहजता और सरलता का अनूठा मेल देखने को मिलता है, जो जीवन को आनंदमयी बनाए रखता है। वहाँ न पैसे का लालच है और न मुनाफे की अंधी दौड़। बल्कि वह अपने सुखमय जीवन के लिए सृष्टि और समष्टि के प्रति कृतज्ञ महसूस करता है। नियमगिरि के मामले में पूरी दुनिया ने देखा कि नियमगिरि के डोंगरिया कौंध आदिवासियों के लिए वह उनका पूर्वज है, उनका भगवान है और वही नियमगिरि वेदांता के लिए मुनाफे के स्रोत प्राकृतिक संसाधनों का ढेर मात्र। जाहिर है किसी पहाड़ को प्राकृतिक संसाधनों और लाभ

से जोड़कर देखा जाएगा तो उसका अधिक से अधिक दोहन किया जाएगा, वहीं अगर उसे अपना पूर्वज माना जाएगा तो उसके बचाव और रचाव के प्रयास किये जाएँगे। आदिवासी समाज खुद को तमाम नदियों, पहाड़ों और जंगलों का संरक्षक मानता है और उन्हें बचाना अपना कर्तव्य समझता है। यह बात आदिवासी दर्शन की प्रमुख विशेषताओं में से एक है।

गैर-आदिवासी लेखन रंग, नस्ल, लिंग, धर्म आदि के पूर्वाग्रहों से भरा पड़ा है जबकि आदिवासी साहित्य और दर्शन में इनके प्रति कोई आग्रह नहीं है। आदिवासी सौंदर्यबोध के अनुसार दुनिया में कुछ भी असुंदर नहीं है। साथ ही आदिवासी साहित्य हर तरह की गैर-बराबरी के खिलाफ है। जब पूरी दुनिया एक सांस्कृतिक और एक भाषा की ओर बढ़ती चली जा रही है, आदिवासी दर्शन मानव समाज की भाषाई और सांस्कृतिक विविधता के साथ खड़ा है। आदिवासियों का पारंपरिक ज्ञान और साहित्य उनकी अपनी भाषाओं में संरक्षित है। संयुक्त राष्ट्र संघ दुनियाभर के देशज लोगों के हक में उनके आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करता है। आदिवासी साहित्य भी आदिवासियों के आत्मनिर्णय के अधिकार के पक्ष में है।

तथाकथित मुख्यधारा की साहित्यिक विरासत सामंती, ब्राह्मणवादी, धनलोलुप और बाजारवादी शब्दावलियों, मिथकों, प्रतीकों और व्यक्तिगत महिमामंडन से भरी पड़ी है। तमाम प्रगतिशील और अस्मितावादी साहित्य भी इससे पूरी तरह मुक्त नहीं है। आदिवासी साहित्य और दर्शन इससे अपनी असहमति जताता है। आदिवासी दर्शन सहअस्तित्व, समता, सामूहिकता, सहजीविता, सहभागिता और सामंजस्य को अपना आधार मानते हुए रचाव और बचाव में यकीन करता है इसीलिए इसमें स्वानुभूति या सहानुभूति के स्थान पर सामूहिक अनुभूति का प्रबल स्वर-संगीत सुना जा सकता है। यहाँ एक और बात गौर करने की है। आदिवासियों का साहित्य उनकी मातृभाषाओं की मौखिक (और अब लिखित भी) परंपरा में मौजूद है। इसलिए आदिवासी दर्शन या आदिवासी विश्वदृष्टिकोण को समझने के लिए आदिवासियों के केवल हिंदी लेखन से काम नहीं चलेगा। उनकी मातृभाषाओं तक पहुँचना होगा।

यह भी सच है कि आदिवासी जीवन और साहित्य के बारे में बात करते वक्त हमें आदिवासी समाज के अंदर की विविधताओं को समझना और संबोधित करना होगा। आदिवासी समाज कोई जड़ समाज नहीं है, खासतौर पर इन दिनों वह गहरे बदलावों के दौर से गुजर रहा है। इन बदलावों को भी रेखांकित करना होगा। कुल मिलाकर आदिवासी जीवन और उसकी समस्याओं को संपूर्णता में समझना होगा और आदिवासी जीवन-दृष्टि को समझने में आदिवासी साहित्य से बेहतर पथ-प्रदर्शक कोई नहीं हो सकता इसलिए हमारा फोकस आदिवासियों की उस पूरी मौखिक और लिखित साहित्य परंपरा पर होना चाहिए। उसी से संवाद करके हम समझ पायेंगे कि आदिवासी दर्शन रचाव और बसाव का दर्शन है। विकास की अलग-अलग परिभाषाओं की अंधी दौड़ में फंसे विश्व को यही दर्शन बचा सकता है।

आदिवासी साहित्य हिंदू मिथकों के डीकोडीकरण का कार्य कर रहा है। हिंदू मिथकों में वर्णित आदिवासियों के खलनायकत्व की छवि पर सवाल उठता है। आदिवासी साहित्य आदिवासी आंदोलनों की परंपरा और राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन में आदिवासियों की भागीदारी से जुड़ी कहानियों को सामने लाता है और बताता है कि किस प्रकार आदिवासी आंदोलन साम्राज्यवाद के साथ सामंतवाद से भी लड़ने के कारण ज्यादा महत्वपूर्ण थे। इसके साथ ही आदिवासी साहित्य की परंपरा संस्कृतिकरण और आदिवासी समाज पर इसके

कुप्रभावों के प्रति सचेत है। आदिवासी साहित्य आदिवासी स्वायत्तता और स्वशासन के सवाल को पुरजोर तरीके से उठाता है। इन सबके साथ आदिवासी साहित्य वर्तमान में आदिवासियों के समक्ष उपस्थित समस्याओं से भी रूबरू कराता है, जैसे विस्थापन की समस्या, आर्थिक शोषण की समस्या, बाहरी दखल से उत्पन्न समस्या, आदिवासी स्त्रियों के सवाल आदि।

आदिवासी साहित्य में स्त्री रचनाकारों और उनके मुद्दों की उपस्थिति शेष हिंदी साहित्य से काफी अच्छी है। श्रम में बराबर की भागीदारी की वजह से स्त्री आदिवासी समाज में तुलनात्मक रूप में मजबूत स्थिति में रही है। साहित्य लेखन में भी उसने बड़-चढ़कर हिस्सा लिया है। पहली हिंदी कविता सुशीला सामद की मिलती है तो कहानी एलिस एक्का की। आलोचना के क्षेत्र में वंदना टेटे अग्रणी हैं ही। निर्मला पुतुल की कविताओं में आदिवासी स्त्री की समस्याएँ बहुत बारीकी से अभिव्यक्त हुई हैं और रोज केरकेटा की कहानियों में आदिवासी स्त्री के शोषण और प्रतिरोध का चित्रण हुआ है।

आदिवासी साहित्य की एक विशेषता इसकी द्विभाषी प्रस्तुति है। चूंकि हिंदी आदिवासी लेखकों की मातृभाषा नहीं है और जाहिर है कोई भी लेखक मूलतः अपनी मातृभाषा में सोचता है तथा अपनी भाषा में ही बेहतर लिख सकता है इसलिए ज्यादातर आदिवासी लेखकों ने अपनी रचनाएँ प्रधानतः अपनी भाषाओं में लिखी हैं और उनका हिंदी रूपांतरण भी साथ ही प्रस्तुत किया है। यह कार्य कविता के क्षेत्र में सर्वाधिक हुआ है। इसकी वजह कविता का छोटा कलेवर है। दर्जनों आदिवासी रचनाकारों ने अपने कविता-संग्रह द्विभाषिक प्रस्तुत किये हैं, जिसमें एक उनकी मातृभाषा है और दूसरी हिंदी। जसिंता केरकेटा ने तो अंग्रेजी और जर्मन में भी अपनी कविताएँ प्रस्तुत की हैं। कुछ रचनाकारों ने कहानियाँ भी दो भाषाओं में साथ में प्रस्तुत की हैं। जाहिर है उपन्यास के क्षेत्र में यह व्यावहारिक नहीं है इसलिए उपन्यासों की द्विभाषिक प्रस्तुति नहीं दिखाई पड़ती।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि समकालीन आदिवासी लेखन अपनी पुरखा परंपरा और बाहरी समाज और साहित्य से संवाद कर सृजन के क्षेत्र में नए प्रयोग करता हुआ आदिवासी जीवन और दर्शन की अभिव्यक्ति कर अपनी सार्थक उपस्थिति दर्ज करा रहा है।

## बोध प्रश्न 2

1. मौलिक साहित्य किस साहित्य का मूल आधार है?  
(क) आदिवासी साहित्य (ख) दलित साहित्य  
(ग) प्रवासी साहित्य (घ) स्त्री विमर्शपरक साहित्य
2. मेन्स ओडेय का 'मतुराअ कहनि' जिसे पहला आदिवासी उपन्यास माना जाता है। किस भाषा में लिखा गया है?  
(क) खासी (ख) गारो  
(ग) मुंडारी (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
3. समकालीन हिंदी आदिवासी कविताओं की शुरुआत हम किसकी कविताओं से मान सकते हैं?  
(क) निर्मला पुतुल (ख) राम दयाल मुंडा  
(ग) महादेव टोप्पो (घ) रोज केकेट्टा

4. किस आदिवासी लेखक ने यात्रा-वृत्तांत व संस्मरण भी लिखे हैं?

(क) शंकर लाल मीणा

(ख) हरिराम मीणा

(ग) पीटर पॉल एक्का

(घ) ग्रेस कुजूर

---

### 3.7 आदिवासी साहित्य की वैचारिकी

---

किसी भी मुक्तिकामी साहित्य के मूल्यांकन के लिए उसकी वैचारिकी की समझ होना बहुत जरूरी है। चूंकि आदिवासी समाज और साहित्य बाहरी समाज से काफी अलग है इसलिए उनका मूल्यांकन करते वक्त हमें बाहरी प्रतिमानों को किनारे रखना होगा। अक्सर साहित्य की राजनीति से प्रभावित आलोचना साहित्य के मूल्यांकन के प्रतिमान निर्धारित करती है। ऐसे में आलोचक के समक्ष जो ज्ञान-परंपरा होती है, जिन मूल्यों में वह या उसकी भाषा के लोग विश्वास करते हैं और जो उसका सच होता है, उसी के आधार पर वह साहित्य के मूल्यांकन के प्रतिमान बनाता है। उदाहरण के लिए एक हिंदी भाषी आलोचक के लिए निराला और उनकी 'राम की शक्ति पूजा' श्रेष्ठ कविता का मानक है, वह स्वयं संस्कृत ग्रंथों, हिंदू मिथकों और तत्समप्रधान शब्दावली को पसंद करता है तो मुमकिन है कि उसके द्वारा निर्धारित प्रतिमानों के अनुसार किसी समसामयिक विषय पर तद्भव व देशज प्रधान हिंदी में लिखी कविता (चाहे वह नागार्जुन की ही क्यों न हो) अच्छी नहीं होगी। और जब बात आदिवासी कविता की आएगी तो फिर और भी मुश्किल होगी। आदिवासी साहित्य की शब्दावली आदिवासी दर्शन से आई है। जंगल, पहाड़ और पुरखों से संबंधित बड़ी संख्या में ऐसे शब्द आदिवासी लेखन में भरे पड़े हैं, जिसके गहरे सांस्कृतिक संदर्भ हैं। उस सांस्कृतिक संदर्भ की वजह से हिंदी आदि बाहरी भाषाओं में न उनके समानांतर शब्द खोजे जा सकते हैं और न अनुवाद किया जा सकता है। ऐसे में आदिवासी साहित्य को समझना और उसका मूल्यांकन करना बेहद चुनौतीपूर्ण कार्य है।

आदिवासियों के बारे में बाहरी समाज द्वारा हुए लेखन में वे या तो बेचारे हैं या हिंसात्मक क्रांतिकारी। इस पर टिप्पणी करते हुए वंदना टेटे लिखती हैं, 'वे समझ ही नहीं पाते कि उनका नकार 'क्रांति (सत्ता) के लिए किया जाने वाला प्रतिकार नहीं' बल्कि समष्टि के बचाव और सहअस्तित्व के लिए है।'

मूल्यांकन की चुनौती किस प्रकार उपस्थित होती है, इस पर कविता के संदर्भ में वंदना टेटे लिखती हैं, 'अपनी विशेष परख-दृष्टि पर आदिवासी रचनाओं को कसते हुए वैसी तमाम कृतियों को भारत के वृहत्तर साहित्य समाज ने कविता मानने से इनकार कर दिया, जो आदिवासीपन के साथ लिखी गई थी।' वंदना टेटे उदाहरण देकर बताती हैं कि कैसे आदिवासीपन वाली रचनाओं की उपेक्षा हुई और कैसे कुछ रचनाकारों की जाति, धर्म, लैंगिक उत्पीड़न, घरेलू हिंसा आदि लोकप्रिय विषयों पर लिखी गई रचनाएँ जनरुचि के अनुकूल होने के कारण महत्वपूर्ण मानी गईं! यानी आदिवासी लेखन का मूल्यांकन करने के लिए पहले मूल्यांकनकर्ता को आदिवासी समाज और साहित्य की परंपरा व मूल्यों से परिचित होना होगा।

सवाल उठता है कि जिस तरह से डॉ. भीमराव आंबेडकर का दर्शन दलित साहित्य के मूल में है क्या उसी तरह से आदिवासी साहित्य के भी कोई विचार पुरुष हैं? वैसे तो आदिवासी साहित्य आदिवासी दर्शन पर केन्द्रित है लेकिन आदिवासी दर्शन को समझने के लिए सुविधा

की दृष्टि से आंबेडकर के बरक्स किसी को खड़ा किया जा सकता है तो वे हैं जयपाल सिंह मुंडा। इनके बारे में अभी काफी कम काम हुआ। इन पर हिंदी में केवल अश्विनी कुमार पंकज और बलबीर दत्त की एक-एक किताब आई है। जयपाल सिंह के चिंतन का मूल भी आदिवासी दर्शन ही है। जयपाल सिंह एक खिलाड़ी, संपादक, लेखक, राजनीतिज्ञ और प्रशासक रहे हैं। संविधान सभा में वे देश के आदिवासियों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। देश के आदिवासियों की ओर से बोलते हुए वे कहते हैं, 'मैं सभा से कहना चाहूँगा कि अगर देश में कोई सबसे ज्यादा दुर्व्यवहार का शिकार हुआ है तो वह हमारे लोग हैं। पिछले छह हजार सालों से उनकी उपेक्षा हुई है और उनके साथ अपमानजनक व्यवहार किया गया है। मैं सिंधुघाटी सभ्यता का वंशज हूँ, उसका इतिहास बताता है कि आपमें से अधिकांश लोग, जो यहाँ बैठे हैं, बाहरी हैं, घुसपैठिए हैं।' जयपाल सिंह का यह तेवर उनके तमाम भाषणों में देखा जा सकता है। यह दुखद है कि उनके भाषणों का न कोई मुकम्मल संकलन आया है और न छिटपुट को छोड़कर अनुवाद ही हुआ है। उनके लेखों को तो अभी खोजा जाना शेष है।

जयपाल सिंह के बारे में जितनी सामग्री मिलती है, उसमें सबसे प्रमुख उनकी अपनी संस्मरणात्मक पुस्तक 'लो बिर सेंदरा' है। इसी को आधार बनाकर अश्विनी कुमार पंकज और बलबीर दत्त ने उनके ऊपर किताबें लिखी हैं। इन किताबों में उनके राजनीतिक जीवन के विविध पहलुओं और आदिवासी आंदोलनों से उनके रिश्तों के बारे में विस्तार से लिखा गया है। जयपाल सिंह ने लंबे समय तक 'आदिवासी महासभा' का नेतृत्व किया और वे झारखंड आंदोलन का सूत्रपात करने वाली झारखंड पार्टी के भी संस्थापक सदस्य थे। संविधान सभा में उन्होंने 'अनुसूचित जनजाति' की जगह 'आदिवासी' पद सुझाया लेकिन उनकी बात मानी नहीं गई। इसी प्रकार उन्होंने 5वीं और छठी अनुसूची का सवाल भी उठाया। हालांकि वे ऑक्सफोर्ड से पढ़कर आए थे लेकिन अपने बाद के जमीनी अनुभवों के कारण आदिवासियों के वास्तविक मुद्दों से वे लगातार देश को परिचित कराते रहे। आदिवासी भी उन्हें अपना नेता मानते थे। उन्होंने आदिवासियों के खानपान और संस्कृति पर भी संविधान सभा में लंबे भाषण दिये।

बाद के चिंतकों में रामदयाल मुंडा का नाम प्रमुख है। यह दिलचस्प है कि उनका चिंतन भी आदिवासी दर्शन पर टिका है। डॉ. रामदयाल मुंडा ने आदिवासियों की आस्थाओं को हिंदुओं की आस्था से पृथक करने के लिए 'आदि धरम' नाम से किताब लिखी है। उन्होंने जनगणना में आदिवासियों के लिए अलग धर्म कोड की भी माँग की। "डॉ. मुंडा का यह प्रयास धार्मिक सोच या पूजा-पाठ तक ही सीमित नहीं था। चूंकि धर्म जुड़ा है संस्कृति से, आर्थिक चक्र से, मातृभाषा से, जंगल से, जमीन से— आदि धरम का मजबूत होना इन सबको मजबूत करेगा।"

आदिवासी चिंतकों में हैराल्ड एस. तोपनो का काम भी महत्वपूर्ण है। ये एक सजग पत्रकार और एक्टिविस्ट थे। इनके लेखों का संकलन अश्विनी कुमार पंकज ने 'उपनिवेशवाद और आदिवासी संघर्ष' शीर्षक से संपादित किया है। पंकज ने इन्हें 'हिंदी का पहला आदिवासी विमर्शकार' कहा है। वे लिखते हैं, "वह हिंदी का पहला आदिवासी सिद्धांतकार है जिसने आदिवासियत के आलोक में, आदिवासी विश्वदृष्टि के नजरिये से पूंजीलोलुप समाज—सत्ता के दर्शन पर चोट की। उसने बताया कि विकास का यह शासकवर्गीय नजरिया देश के मूल निवासियों और आदिवासियों के लिए सिवाय मिथ्या के कुछ नहीं। यह व्यवस्था लुटेरी और हत्यारी है तथा यह आदिवासी क्या, किसी भी आम नागरिक को कोई बुनियादी सुविधा और

मौलिक अधिकारों के उपभोग का स्वतंत्र अवसर नहीं देने जा रही क्योंकि विकास की उनकी अवधारणा उसी नस्ली, धार्मिक और सांस्कृतिक सोच की देन है, जिसमें आदिवासियों, स्त्रियों, दलितों और समाज के पिछड़े तबकों के लिए कभी कोई जगह नहीं रही है।”

आदिवासी दर्शन व्यक्ति केन्द्रित विचार और विचार-पद्धति में विश्वास नहीं करता इसलिए वहाँ कोई 'वाद' जैसा कुछ नहीं है। हां, पुरखे हैं और उनका चिंतन है, जिसके प्रति आदिवासी समाज और उसके साहित्यकारों का कृतज्ञता का भाव है। उपर्युक्त तमाम चिंतकों के लेखन और चिंतन भी आदिवासी दर्शन पर केन्द्रित है। यानी आदिवासी दर्शन आदिवासी साहित्य के मूल में है।

### 3.8 आदिवासी साहित्य की भाषा और शिल्प

जब दलित साहित्य आया था तो उसकी भाषा को लेकर सवाल उठे थे। आक्रोश की तीव्रता की वजह से मुख्यधारा के साहित्यकारों और आलोचकों ने उसे साहित्य मानने से ही इनकार कर दिया था। आदिवासी साहित्य के साथ भी ऐसा ही कुछ हुआ। चूंकि आदिवासियों का अधिकांश लेखन उनकी मातृभाषाओं में है, इसलिए उस या उसके अनुवाद तक हिंदी शोधार्थी पहुँच ही नहीं पाये और वे गैर-आदिवासियों की रचनाओं को ही आदिवासी साहित्य मानकर शोध करते रहे। बाद में आदिवासी लेखकों ने भी हिंदी में लिखना शुरू किया। हिंदी आदिवासियों की मातृभाषा नहीं है। वह आदिवासियों के लिए वैसे ही पराई भाषा है जैसे तमाम भारतीयों के लिए अंग्रेजी। आदिवासियों ने हिंदी सायास सीखी है इसलिए आदिवासी लेखन में भाषा का वैसा छद्म नहीं है जैसा कि अक्सर हिंदी लेखन में देखने को मिलता है। आदिवासी लेखन में दलित साहित्य जैसा आक्रोश भी नहीं है और न ही किसी प्रकार का गाली-गलौज। इसके बावजूद विशिष्ट है आदिवासी लेखन की भाषा। आदिवासी साहित्य की भाषा को हम निम्न बिंदुओं के माध्यम से समझ सकते हैं :

1. आदिवासी लेखन की भाषा सहज है। इससे जहाँ वह एक तरफ आदिवासी दर्शन के अनुकूल बन पड़ी है, वहीं दूसरी तरफ पाठक के लिए भी आसान है। हालांकि हिंदी साहित्य की नकल करते हुए लिखने वाले आदिवासी साहित्यकारों की भाषा में तत्सम प्रधानता और एक तरह की कृत्रिमता है। मंगल सिंह मुंडा का उपन्यास 'छैला संदु' इस संदर्भ में देखा जा सकता है।
2. चूंकि हिंदी आदिवासियों की मातृभाषा नहीं है इसलिए उनकी हिंदी में स्थानीय प्रभाव खूब देखने को मिलते हैं। जैसे झारखंड के साहित्यकार अपने गद्य और पद्य में लिंग संबंधी गलतियाँ करते हैं। इसी तरह स्थानीयता के प्रभाव में वे क्रिया का स्थानीय बोलचाल वाला रूप प्रयुक्त करते हैं।
3. आदिवासी साहित्य की भाषा का वैशिष्ट्य उसमें आई आदिवासी जीवन संबंधी शब्दावली है। जाहिर है वे आदिवासी भाषा-संस्कृति से आई है इसलिए उसका हिंदी में अनुवाद प्रस्तुत करना या समानांतर शब्द खोजना लगभग असंभव है। उदाहरण के लिए 'अखड़ा' को लीजिए। हिंदी का पाठक जब कहीं 'अखड़ा' लिखा पढ़ता है तो वह अपने सीमित ज्ञान संसार की वजह से यह समझ लेता है कि यह शब्द शायद 'अखाड़ा' है, गलती से 'अखड़ा' छप गया है। जबकि 'अखड़ा' शब्द का 'अखाड़ा' से कोई संबंध नहीं। 'अखड़ा' आदिवासी संस्कृति का केन्द्र है। वह

आदिवासी गाँव की तमाम गतिविधियों का केन्द्र है लेकिन वह चौपाल नहीं है। इस तरह की शब्दावली आदिवासी कविता में भरी पड़ी है जिसके प्रसंग आदिवासी समाज, संस्कृति, इतिहास या मूल्यों में बिखरे पड़े हैं। आदिवासी समाज से एकदम अपरिचित व्यक्ति के लिए इन शब्दों को समझ पाना बहुत बड़ी चुनौती है।

4. रचनाओं की द्विभाषी प्रस्तुति आदिवासी साहित्य के शिल्प की एक प्रमुख विशेषता है। ज्यादातर कविता-संग्रह कवियों की अपनी मातृभाषा और हिंदी में प्रस्तुत किये गए हैं।

आदिवासी रचनाओं का कलेवर बहुत छोटा है। न लंबी कविताओं की परंपरा और न लंबे उपन्यासों का। पीटर पौल एक्का के उपन्यासों की औसत पृष्ठ संख्या 70 से भी कम है। दरअसल आदिवासी अपनी बात सहजता से सहज शब्दों में कहने को प्राथमिकता देते हैं। आदिवासी स्वभाव से संकोची होते हैं, इसलिए थोड़ा कहने में यकीन रखते हैं।

### आत्मकथात्मक लेखन और आदिवासी साहित्य

यह दिलचस्प और विचारणीय तथ्य है कि आदिवासी साहित्य में आत्मकथात्मक लेखन की कोई खास प्रवृत्ति दिखाई नहीं पड़ती। यह तथ्य स्त्री, दलित आदि अन्य उत्पीड़ित अस्मिताओं के मुक्तिकामी साहित्य आंदोलनों से आदिवासी साहित्य के पार्थक्य और विशिष्टता का एक महत्वपूर्ण बिंदु भी है।

पहला सवाल यह है कि आत्मकथात्मक लेखन का इतिहास व स्वरूप क्या है? आत्मकथात्मक लेखन मूलतः पूंजीवादी समाज की प्रवृत्ति है। वैसे तो तमाम विधाओं में रचनाकार किसी न किसी रूप में खुद को अभिव्यक्त कर रहा होता है लेकिन फिर भी आत्मकथात्मक लेखन को मुख्यतः दो भागों में बाँटा जाता है— जीवनी और आत्मकथा। तमाम साहित्यिक विधाओं में अधिकांशतः लेखक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में आत्म या उसके इर्द-गिर्द के बारे में लिखता है। यानी आत्मकथात्मकता गैर-आदिवासी साहित्य की एक प्रधान विशेषता है। कम से कम आधुनिक साहित्य के बारे में तो ऐसा कहा ही जा सकता है। तमाम भारतीय भाषाओं में जीवनी और आत्मकथा लेखन की समृद्ध परंपरा है। जब रामस्वरूप चतुर्वेदी अपनी साहित्येतिहास की पुस्तक 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' में लिखते हैं कि 'आधुनिक काल में मनुष्य सारे चिंतन के केन्द्र में आ गया' या जब सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' उद्घोष करते हैं, 'मैंने मैं शैली अपनाई', या जब नामवर सिंह अपनी पुस्तक छायावाद में इस उद्घोष को क्रांतिकारी और ऐतिहासिक बता रहे हैं और जब आत्मकथा की संस्कृति पर महत्वपूर्ण शोध करने वाले पंकज चतुर्वेदी आत्मकथा को 'परिवर्तनकारी विधा' बताते हैं तो वस्तुतः ये सब हिंदी साहित्य में आत्म को अभिव्यक्त करने के महत्त्व को ही रेखांकित कर रहे हैं। यह हिंदी साहित्य का एक बहुत बड़ा अंतर्विरोध है कि आत्म को महत्त्व देते हुए भी ये हिंदी के तमाम रचनाकार स्वयं को समाज का कवि/लेखक घोषित करते हैं। आलोचक उनके साहित्य के सामाजिक सरोकारों पर पुस्तकें लिखते हैं। इस प्रक्रिया में वे 'आत्म' के क्रांतिकारी चरित्र की विशेषताएँ खोजकर पाठकों के समक्ष रखते हैं। यह ठीक वैसे ही है जैसे पूंजीवाद के 'मानवीय पहलुओं' को महिमामंडित करना। दरअसल सामंतवाद की जकड़नों के विरुद्ध पूंजीवाद के व्यक्ति स्वातंत्र्य के छद्म दावे के हुए मुक्ति के क्षणिक अहसास के कारण ऐसा हुआ।



मुक्तिकामी साहित्य आंदोलनों के दौर में आत्मकथात्मक लेखन की यह प्रवृत्ति केन्द्रीयता प्राप्त करती है। आत्मकथा स्त्री लेखन और दलित लेखन की प्रधान विधा बन जाती है। ये आत्मकथाएँ बाहरी समाज—व्यवस्था के प्रतिमानों के अनुसार सफल (सामान्यतः नौकरीपेशा या आर्थिक रूप से मजबूत हो चुके) लेखक या लेखिका के जीवन—संघर्ष की कथाएँ हैं। इनमें जाति, वर्ण और पितृसत्ता के खिलाफ लेखक या लेखिका का संघर्ष दर्ज हुआ है इसलिए संबंधित समुदाय के लिए प्रेरणास्पद मानी जाती हैं और यही इनकी लोकप्रियता का कारण भी है। ये स्त्री शोषण या दलित शोषण की प्रामाणिक दस्तावेज मानी गईं और स्वानुभूति का सशक्त माध्यम भी। इस दृष्टि से दोहरा शोषण झेलने वाली दलित स्त्रियों की आत्मकथाएँ (दोहरा अभिशाप – कौशल्या बैसंत्री, शिकंजे का दर्द – सुशीला टाकभौरे) ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाती हैं। निश्चित तौर पर अगर कोई रचना (भले ही वह किसी भी विधा में हो) गुलामी की जंजीरों को तोड़ने में सहायक साबित होती है और बराबरी की चेतना का प्रसार करती है तो उसका ऐतिहासिक महत्व है। सवाल यह है कि अकादमिक जगत में स्त्री और दलित लेखन के बाद जगह बनाने वाले आदिवासी लेखन में यह प्रवृत्ति क्यों नहीं दिखाई पड़ती?

आदिवासी साहित्य में आत्मकथात्मक लेखन की प्रवृत्ति पर जोर न होने के कारण आदिवासी दर्शन में मौजूद हैं। आदिवासी साहित्य के अनिवार्य तत्व आदिवासी दर्शन को स्पष्ट करने की दृष्टि से 'आदिवासी साहित्य का रांची घोषणा—पत्र' प्रासंगिक है। आदिवासी दर्शन की सबसे प्रधान विशेषता उसकी सामूहिकता है। वहाँ व्यक्तिवाद के लिए कोई जगह नहीं है। व्यक्ति महत्वपूर्ण है ही नहीं। आदिवासी दर्शन सहअस्तित्व, समता, सामूहिकता, सहजीविता, सहभागिता और सामंजस्य को अपना आधार मानते हुए रचाव और बचाव में यकीन करता है इसीलिए इसमें स्वानुभूति या सहानुभूति के स्थान पर सामूहिक अनुभूति का प्रबल स्वर—संगीत सुना जा सकता है। सामूहिक अनुभूति आत्मकथा में नहीं गीतों में ही संभव है। मुंडारी पुरखा साहित्य के अध्ययन के दौरान एक दिलचस्प तथ्य सामने आता है कि वहाँ अपने प्रेमी या प्रेमिका को पाने के लिए प्रेमीपात्र के समाज से टकराने की स्थितियाँ नहीं दिखाई पड़तीं। इसका एक कारण तो यह है कि आदिवासी समाज में साथी चुनने का अधिकार भी पहले से मौजूद रहा है, घोटुल, धुमकुरिया आदि की समृद्ध परंपरा इसका साक्ष्य है। वेरियर एल्विन ने इस पर अच्छा अध्ययन किया है। प्रेमी पात्र को पाने के लिए किसी टकराव के न होने का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण बताते हुए प्रो. वीर भारत तलवार अपनी पुस्तक 'झारखंड के आदिवासियों के बीच' में लिखते हैं, 'मुंडाओं का सामाजिक संगठन बहुत शक्तिशाली रहा है और उसमें व्यक्ति की वैयक्तिकता नहीं के बराबर रही है'। जाहिर है जहाँ सामूहिकता का स्वरूप सामंती नहीं, बराबरी पर आधारित होगा और वैयक्तिकता की जरूरत व उपस्थिति ही नहीं होगी, वहाँ आत्मकथात्मक लेखन की प्रवृत्ति न पनपना स्वाभाविक ही है।

आदिवासी दर्शन का एक महत्वपूर्ण तत्व है उसका प्रकृति की लय—ताल और संगीत का अनुगामी होना। दरअसल आदिवासी समाज में साहित्य अन्य कला—माध्यमों से अलग और श्रेष्ठ नहीं माना जाता। वहाँ कलाकार एक साथ गीतकार भी है, संगीतकार भी है और नर्तक भी। आदिवासी साहित्य की लंबी परंपरा के रूप में मौजूद मौखिक साहित्य या पुरखौती में कौन सा गीत किसने रचा, बताना मुश्किल है क्योंकि अधिकांश गीतों की रचना सामूहिक रूप से हुई। पुरखौती किसी व्यक्ति या व्यक्तियों की नहीं, पूरे समाज की धरोहर मानी जाती है। सामूहिकता की ऐसी सुदृढ़ परंपरा में आत्मकथात्मक लेखन की जरूरत क्यों पड़ेगी?

आदिवासी दर्शन में प्रकृति और पुरखों के प्रति आभार का भाव निहित होता है। पुरखों के कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान और इंसानी बेहतरी के अनुभवों के प्रति आदिवासी रचनाकार कृतज्ञता व्यक्त करता है लेकिन व्यक्ति विशेष की महिमा और गुणगान का विरोध करता है। आदिवासी दर्शन मनुष्य की श्रेष्ठता के दंभी दावे को खारिज करता है। आदिवासी विश्वदृष्टि के अनुसार दुनिया का हर प्राणी और उसका जीवन बराबर महत्वपूर्ण है इसलिए उन सब को बचाया जाना जरूरी है। साथ ही नदी, नाले, पहाड़, जंगल आदि को भी बचाया जाना जरूरी है। सही अर्थों में व्यष्टि का निषेध और समष्टि का स्वीकार, जाहिर है उसे अभिव्यक्त करने का सबसे सशक्त माध्यम गीत हो सकते हैं, आत्मकथात्मक लेखन नहीं।

चूंकि तमाम आत्मकथाएँ सफल लोगों द्वारा सफलता के लिए किये गए संघर्ष की कहानी कहती हैं और आदिवासी दर्शन सफलता और विकास के उन पूंजीवादी प्रतिमानों को ही खारिज करता है। बाहरी समाज और साहित्य के प्रतिमानों, विधाओं के विभाजन आदि के आधार पर आदिवासी समाज और साहित्य का मूल्यांकन करना स्वयं उचित नहीं जान पड़ता। पिछले 50-60 सालों में आदिवासियों के बीच बहुत तेजी से फैलती संस्कृतिकरण की प्रक्रिया देखी जा सकती है। इसका असर आदिवासी भाषा, संस्कृति और साहित्य पर स्पष्ट देखा जा सकता है। उनके जीवन में आदिवासियत का लगातार ह्रास होता जा रहा है। मुमकिन है आने वाले समय में आदिवासियों में भी बाहरी समाज के प्रतिमानों के हिसाब से 'सफल' लोग आत्मकथाएँ लिखें। लेकिन इतना तय है कि आत्मकथात्मक लेखन आदिवासी दर्शन के अनुकूल नहीं है इसलिए आदिवासी साहित्य की मूल प्रवृत्ति भी नहीं बन पाई है। जब तक आदिवासी साहित्य में आदिवासियत और उसकी प्रधान विशेषता सामूहिकता का महत्व रहेगा, आत्मकथात्मक लेखन की प्रवृत्ति के पनपने की संभावनाएँ कम ही हैं।

### बोध प्रश्न 3

1. आदिवासी दर्शन को समझने के लिए सुविधा की दृष्टि से आंबेडकर के समकक्ष किसे रखा जा सकता है?
  - (क) जयपाल सिंह मुंडा
  - (ख) राम दयाल मुंडा
  - (ग) सुशीला सामद
  - (ग) वंदना टेटे
2. आदिवासी साहित्य में आत्मकथात्मक लेखन की प्रवृत्ति पर जोर न होने का कारण मौजूद है?
  - (क) आदिवासी साहित्य के राँची घोषणा-पत्र में
  - (ख) आदिवासी समाज के प्रतिबंधों में
  - (ग) आदिवासी दर्शन में
  - (घ) आदिवासी राजनीति में

---

### 3.9 सारांश

---

आदिवासी विमर्श की अवधारणा और आंदोलन पर केंद्रित इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात अब आप:

- अस्मितामूलक विमर्शों में आदिवासी विमर्श का स्थान निर्धारित कर सकते हैं।

- आदिवासी साहित्य विमर्श की परंपरा का परिचय दे सकते हैं।
- आदिवासी लेखन की प्रवृत्तियों का निर्धारण कर सकते हैं।
- आदिवासी लेखन का महत्त्व प्रतिपादित कर सकते हैं।
- आदिवासी साहित्य के भाषा-शिल्प का विश्लेषण कर सकते हैं।

आदिवासी विमर्श :  
अवधारणा और आन्दोलन

---

### 3.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

---

1. आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन – वंदना टेटे, नोशन प्रेस
2. आदिवासी दर्शन और साहित्य – वंदना टेटे (सं.), नोशन प्रेस
3. आदिवासी : समाज, साहित्य और राजनीति – केदार प्रसाद मीणा, अनुज्ञा बुक्स

---

### 3.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

---

#### बोध प्रश्न 1

1. (घ) 2. (घ)

#### बोध प्रश्न 2

1. (क) 2. (ग) 3. (ख) 4. (ख)

#### बोध प्रश्न 3

1. (क) 2. (ग)

ignou  
THE PEOPLE'S  
UNIVERSITY